हरियाणवी सांग

-सरिता

लोक साहित्य का अपने आप में विस्तृत फलक है जिसके अंतर्गत नौटंकी, पाबू जी की पड, रामलीला, स्वांग या सांग, कृष्णलीला, भवई, ख्याल, लौंडा नाच, कठपुतली नाच, नरसी कथा, जात्रा, विभिन्न क्षेत्रों का लोक साहित्य व अन्य विधाएं आती हैं। लोक की जब बात आती है तो मानो पूरा विश्व इस एक शब्द में समाहित हो जाता है और प्रत्येक व्यक्ति अपने अंतर्मन से इस शब्द के साथ जुड़ जाता है क्योंकि जनमानस के मन के भाव और विचार लोक की पृष्ठभूमि में ही अंकुरित होते हैं। लोक साहित्यकार श्यामसुंदर दुबे इस संबंध में लिखते हैं, "लोक को हम बहुत अलग से नहीं देखते हैं। लोक एक व्यापक और एक ऐसी दृष्टि है जो सम्पूर्ण विश्व क्या, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अपने में समाहित किये हुए है। यह दृष्टि लोक को इतना व्यापक, इतना सरल, इतना सहज, इतना सहिष्णु और इतना यथार्थबोधि बनाती है और शुद्धधर्मी बनाती है कि लोक में जो कुछ भी सम्पन्न हो रहा है अर्थात इस ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी सम्पन्न हो रहा है वह लोक से लोक के परिगत से लोक की सीमाओं से ही है।"[1]

जिस प्रकार मनुष्य बचपन से ही प्रकृति के साथ अपने जीवन को संचरित करता है तथा प्रकृति के प्रत्येक रूप के साथ जीना सिखता है वैसे ही लोक का भी व्यक्ति जीवनपर्यन्त सान्निध्य पाता है और साथ ही साथ अपने आस-पास के क्षेत्र, अंचल व चारों तरफ घटित घटनाओं को जीवन में आत्मसात करता है और उसका प्रभाव अपने पर पाता है। लोक में घटित होने वाली क्रियाएँ भाषायी स्तर पर आकर लोक साहित्य का रूप ले लेती हैं और साहित्य का एक बड़ा क्षेत्र श्रोता या पाठक वर्ग के लिए खुल जाता है। डॉ सुरेश गौतम लिखते हैं, "कला में व्याप्त लोक लावण्य जब सत्यं, शिवं, सुंदरं से जुड़ जाता है तब वह 'रस' सत्य के शिवत्व का है। कला की आत्मा का प्रकाश है जो शरीर की क्रिया, प्राण की इच्छा, मन के चिंतन के माध्यम से प्रकट होती है। किंतु इसका प्राकट्य वहीं होता है जहाँ शिवत्व हो। गाँधी जी ने बहुत सटीक टिप्पणी की है- जो कला आत्मा को आत्मदर्शन की शिक्षा नहीं देती, वह कला नहीं है।

साहित्य हो या कला, उसकी विशेष प्रतिष्ठा तब तक नहीं हो सकती जब तक उसमें सांस्कृतिक अस्मिता नहीं बोलती। जिस लोक कला में भारत नहीं बोलेगा उस काल की संसार मे कोई प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। जिस समाज या लोक जीवन में कवि या कलाकार पैदा नहीं होते वह बहरे लोगों का समाज होता है जो अपनी धमनियों की आवाज़ नहीं सुन पाता क्योंकि कलाकार ही वह यंत्र है जिससे समय के ताप की ऊंचाई व निचाई मापी जाती है।"[2]

लोक साहित्य को जीवंत व प्रभावी रूप देने का कार्य रंगमंच के द्वारा किया जाता है। रंगमंच एक सशक्त माध्यम माना जाता है साहित्य को जनहृदय तक पहुंचने का। रंगमंच के द्वारा सहित्यिक विधा को केवल अभिनय के द्वारा ही प्रस्तुत नहीं किया जाता वरन समाज के समक्ष उसकी जीवन्तता भी परोसी जाती है। रंगमंच के द्वारा सहित्य की विभिन्न विधाओं से साक्षात्कार कराया जाता है इसी रंगमंचीय कड़ी का

एक हिस्सा सांग या स्वांग है। माना जाता है कि साहित्यिक रंगमंच वैदिक काल से ही भारत में विद्यमान है। डॉ सुरेश गौतम लिखते हैं, "भरतीय नाट्य साहित्य की परंपरा ऋग्वेद के संवाद-सूक्तों से लेकर आज के आर्थिक बौद्धिक युग तक अविच्छिन्न रूप से मिलती है। इस अत्यंत समृद्ध व प्राचीन नाट्य परम्परा की भाषा का स्वरूप भी समय के साथ-साथ परिवर्तित होता गया। जब कभी भी किसी भाषा का गद्य स्तर साहित्यिक कृतियों के अनुरूप हुआ तभी उस भाषा मे नाट्य सृजन भी हुआ। गद्य के अभाव में काव्यों के पद्य-बद्ध संवादों, लोकधर्मी नाट्य-परम्पराओं, लीला-रास तथा सांग आदि से इनकी क्षतिपूर्ति होती रहती है।"[3]

भारत में लोक नाटकों की परम्परा के कारण किसी शुभ अवसर या उत्सव आदि में लोक नाटकों का मंचन करवाया जाता था। इन लोक नाटकों का उद्देश्य लोक मंगल की भावना का संप्रेषण था जो कि समाज के अंतर्संबंधों की सुदृढ़ता के लिये आवश्यक है। लोक रंगमंच की विभिन्न शैलियों के द्वारा नाटक के बिखरे हुए सूत्रों को जोडने के साथ- साथ रंगमंच की गतिशीलता को आगे बढ़ाया जाता है। लोक नाटकों की यह परंपरा मानव जीवन के अन्तःकरण और बाह्यकरण को मंच पर जीवन्त रूप में प्रस्तुत करती है ताकि जीवन जीने का एक नया नजरिया विकसित हो सके और जिससे मनुष्य संघर्षशील विचारधारा की ओर उन्मुख होने से कतराना छोड़ें। लोक जीवन से जुड़े जितने भी मुद्दे हैं उनकी सुगम अभिव्यक्ति के लिए लोक मंच ही सबसे सार्थक माध्यम है जिसकी प्रासंगिकता आज भी उतनी ही है जितनी की प्राचीन काल में थी। डॉ श्याम परमार लिखते हैं, "लोक नाटक से तात्पर्य नाटक के उस रुप से है जिसका संबंध विशिष्ट शिक्षित समाज से भिन्न सर्वसाधारण के जीवन से हो और जो परम्परा से अपने-अपने क्षेत्र के जनसमुदाय के मनोरंजन का साधन रहा हो"[4]

माना जाता है कि स्वांग या सांग का सूत्रपात अपभ्रंश या प्राकृत द्वारा हुआ है। अपभ्रंश और प्राकृत की छाया ग्रहण करके हिंदी बोलियों का जो नाट्य रूप विकसित हुआ उसमें से सांग एक है। अतः हम कह सकते हैं कि सांग सर्वप्राचीन लोकनाट्य है जिसमें किसी कथा या लोकगीतों की विषयवस्तु को केवल वाचन आधारित न रखकर शारीरिक हरकतों से अभिव्यक्त किया जाता है। स्वांग में जीवन की नकल तथा हास्य के साथ-साथ व्यंग्य भी केंद्र में होता है और यह जीवन को अनुकृत करने वाली विधा बन जाती है। सांग की यह परम्परा हरियाणा, राजस्थान, उत्तर प्रदेश व मध्यप्रदेश के मालवा क्षेत्र में लोकरंगमंच के रूप में प्रसिद्ध रही है जो कि खुले मंच पर खेला जाता है। श्यामसुंदर दुबे लिखते हैं, "स्वांग की कुछ सामान्य विशेषताओं को हम अपभ्रंश और प्राकृत के साहित्य में भी पाते हैं मसलन अपभ्रंश और प्राकृत का साहित्य जनमानस के जीवन से उपजीव्य ग्रहण कर रहा था। निम्न व दलित वर्ग का आक्रोश इस साहित्य में कहीं व्यंग्य के माध्यम से और कहीं धक्कामार यथार्थ के रूप में अभिव्यक्त हुआ है- सामाजिक वैषम्य, धार्मिक पाखंड और आडम्बर युक्त जीवन के उद्घाटन में यह साहित्य सक्रिय रहा है। इस साहित्य में लोकजीवन के सरस और निश्छल प्रसंग भी समाहित हैं, यौन संदर्भों के अनेक दृष्ययाम भी इस साहित्य में निहित है। यह साहित्य अनुरंजन व सामाजिक परिष्कार का विशिष्ट माध्यम बना है। दोहा और छोटे छन्दों में अभिव्यक्त होने वाला यह साहित्य अपनी प्रस्तुति में निश्छल ओर निर्द्वन्द साहित्य है। लगभग ये सभी

विशेषताएं स्वांग में भी उपलब्ध होती हैं अतः स्वांग सीधी प्राकृत और अपभ्रंश के कला संदर्भों से ही अविष्कृत लोकनाट्य विधा है।"[5]

स्वांग की कथावस्तु सामाजिक संदर्भों से ओतप्रोत रहती है इसमें दिखावे की प्रकृति का विरोध किया जाता है बदलते सामाजिक संदर्भों को अपनाया जाता है और सामाजिक वैषम्य पर करारी चोट की जाती है। स्वांग में सामाजिक विसंगतियों पर व्यंग्य करते हुए जनमानस को जागरूक करने का प्रयास किया जाता है साथ ही मनोरंजन को बढ़ाने व हास्य उत्पन्न करने के लिए भाषा का लाक्षणिक प्रयोग किया जाता है। खुले मंच पर खेले जाने के कारण स्वांग के लिये साज-सज्जा का होना अनिवार्य नहीं होता और न ही कोई मेकअप रूम की आवश्यकता होती है। सांग में केवल पुरुष पात्र ही कलाकार की भूमिका व अन्य कार्यों का निर्वहन करते हैं। स्त्री पात्र की भूमिका भी पुरूष पात्र ही निभाते हैं। पहले किसी भी प्रकार के लाउडस्पीकर का प्रयोग नहीं किया जाता था लेकिन अब माइक का प्रयोग होने लगा है। प्रतिभागी अपनी क्षमता के अनुसार समय के बंधन से मुक्त होकर अभिनय करता है। कुछ वाघयंत्र जैसे- इकतारा, सारंगी, ढोलक व हारमोनियम का प्रयोग संवाद की रोचकता बढ़ाने के लिए किया जाता है। ऑर्केस्ट्रा से माहौल व वातावरण को मनोरंजक बनाने का काम किया जाता है। ओर्केस्ट्रा सांग शुरू होने से पहले ही बजा दिया जाता है और सांस्कृतिक व भक्तिपरक लोकगीत बजा दिए जाते हैं ताकि गाना लोगों को खेले जाने वाले सांग से जोड़ सके और अंत में सभी अपने गुरू का आशीर्वाद लेकर माता भवानी के गाने के साथ सांग की शुरुआत करते हैं।

"हरियाणवी सांग का मंच आडम्बरहीन व सादा होता है। किसी भी खुले स्थान पर तख्त लगाकर और उन पर दरिया बिछा कर सांग की स्टेज तैयार की जाती है इसमें न किसी पर्दे की आवश्यकता होती है और न ही नेपथ्य की। यहाँ पर सबकुछ दर्शकों के सामने खुले में होता है। प्रवेश, प्रस्थान, संवाद, गाना तथा नाचना आदि सब कुछ विभिन्न पात्रों द्वारा खुले मंच पर ही किया जाता है"[6]

हरियाणा में सांग परम्परा का आरम्भ लगभग 1730 के आस पास माना जाता है। किशन लाल भाट इसके सूत्रधार माने जाते हैं। सांग को जनमानस तक पहुंचने का श्रेय उन्हीं को जाता है तत्पश्चात बंशीलाल सांगी, अलीबख्श सांगी, पंडित नेतराम, पंडित दीपचंद, हरदेवा सांगी, बाजे भगत, लख्मीचंद, धनपत सिंह, पंडित रामकिशन व्यास, हुश्यार प्यारे और मांगेराम सांग के क्षेत्र में काफी प्रसिद्ध नाम रहे हैं। कुछ प्रसिद्ध सांगो की श्रृंखला में पद्मावत, प्रहलाद भगत, हीर-रांझा, पूरण भगत, राजा भोज, हरिचन्द्र, गोपीचंद-भरथरी, चंदकिरण आदि आते हैं। हरियाणा में सांग परम्परा के द्वारा लोक साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग दर्शकों, श्रोताओं और वाचकों के लिए खुल जाता है और सांस्कृतिक चेतना को बदलते परिवेश में मानव तक सम्प्रेषित करना आसान हो जाता है प्रस्तुत उद्धरण से स्पष्ट है, "सांग की इस विकास प्रक्रिया ने हरियाणा की संस्कृति के विभिन्न पक्षों को उजागर किया है, लोककथाओं और पौराणिक आख्यानों के माध्यम से इस परम्परा के लोगों को मनोरंजन और अपनी संस्कृति का ज्ञान भी प्राप्त हुआ। उन्हें अपनी सामाजिक व सांस्कृतिक परम्पराओं और मूल्यों को सुरक्षित रखने की प्रेरणा भी मिली। शिक्षा व समाज कल्याण के लिए प्रेरित भी किया।"[7]

आधुनिकता के इस दौर में स्वांग जैसी लोक नाट्य कला का महत्व और अधिक बढ़ जाता है। लोक संस्कृति को संवारने के लिए और सांस्कृतिक मूल्यों के विस्थापित के लिये इस प्रकार की नाट्य कला का जीवंत रहना अति आवश्यक है। प्रौद्योगिकी के कारण जहां गांव अब गांव न रहकर शहर हो गए हैं वहां सांस्कृतिक व मानवीय मूल्यों के विघटन को रोकने के लिए लोकरंगमंच का गतिशील होना अनिवार्य हो जाता है जिससे समाज में सकारात्मक विकास की प्रक्रिया का आह्वान हो और एक स्वस्थ समाज निर्मित हो सके। संदर्भः

1. लोक का साहित्यः साहित्य का लोक, श्यामसुंदर दुबे, नेशनल पब्लिकेशन, जयपुर, 2015 पृष्ठ संख्या 3,

2. लोक साहित्यः अर्थ और व्याप्ति, डॉ सुरेश गौतम, संजय प्रकाशन, दिल्ली, 2015 पृष्ठ संख्या 257-58,

3. लोक साहित्यः अर्थ और व्याप्ति, डॉ सुरेश गौतम, संजय प्रकाशन, दिल्ली, 2015 पृष्ठ संख्या 192,

4. एक रोटीः डॉ श्रीराम परिहार, वर्ष-1, अंक-9, दिसम्बर 2007

5. लोक का साहित्यः साहित्य का लोक, श्यामसुंदर दुबे, नेशनल पब्लिकेशन, जयपुर, 2015 पृष्ठ संख्या 40-41,

6. देस हरियाणा, संपादक सुभाष चन्द्र, सितंबर-अक्टूबर 2016, पृष्ठ संख्या 60

7. देस हरियाणा, संपादक सुभाष चन्द्र, सितम्बर-अक्टूबर 2016, पृष्ठ संख्या 58-59

-सरिता

शोधार्थी (पीएच.डी.), हिंदी विभाग,

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली